वैचारिक नवोन्मेष की ज़मीन

तीन साक्ष्य

राकेश पाण्डेय

पत्रिका के इस हिस्से में हम आधुनिक भारत में बौद्धिक स्वातंत्र्य और सृजनात्मकता के पहलुओं से जूझते और उन पर नये सवाल खड़े करते चिंतन के कुछ प्रयास सामने रख रहे हैं। यह आधुनिक संदर्भ में बौद्धिक परम्पराओं की निर्मिति और सम्भावना से जुड़े प्रश्नों की ओर पलट कर देखना है। और हमारी समकालीन अवस्थिति पर विचार भी। लेकिन परम्परा को आदर्शीकृत या महिमा-मंडित करना कतई नहीं। बौद्धिक परम्परा की हमारी थाती कभी इकहरी नहीं रही। भरसक वह एक साथ खड़ी कई नयी पुरानी परम्पराओं के जटिल गुँथाव में ही सिरजी जाती रही है। लोक और लोकोत्तर को बेहतर रोशनी में देखे जाने के लिए तर्कणा और पूर्व-पक्ष की कसौटी पर खोजे गये सच की प्रतिष्ठा पर ही इस परम्परा में ज़ोर रहा है। एक तरह का प्रातिभ संज्ञान और पुनर्नवा भाव यदि ज्ञान की इस परम्परा के राजपथ की रचना करते हैं, तो आख़िर ऐसा क्या है जिसके कारण औपनिवेशिक युग में बौद्धिक कर्म और उसकी देशज परम्परा की जीवंतता को लेकर सवाल खड़े हो जाते हैं! उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दशक तक तो पूरे भारत में एक तरह के बौद्धिक पुनर्जीवन की माँग सुनायी पड़ने लगती है। निश्चय ही यह माँग औपनिवेशिक काल में पनपे सामाजिकऔर धार्मिक सुधार आंदोलनों की छाया में उपजती है। अक्सर इसकी कसौटियाँ सीधे-सीधे व्यावहारिक और रोज़मर्रा के सरोकारों को प्रभावित करती नहीं दिखतीं और इस कारण वे कुछ और तरह के सवालों के साथ आकार लेती हैं। ऐसा मुख्यत: पश्चिम में पनपी सभ्यता, संस्कृति और आधुनिक विज्ञान से जुड़ी अवधारणाओं के पूरे दुनिया में फैलते प्रभाव में होता है। बीसवीं सदी की शुरुआत से ही राष्ट्रवादी चिंतन के प्रभाव में सभ्यता और संस्कृति के मूल-स्रोतों की खोज मानो एक विराट आंदोलन का रूप ले लेती है। सामान्य पढ़े-लिखे लोगों की पहुँच में होती टाउन-हॉल सभाओं से लेकर आधुनिक विश्वविद्यालयों के लेक्चर-हॉल्स तक, पश्चिमी शिक्षा में पगे विद्वानों के बैठक-खानों से लेकर भारतीय मनीषा के नवोन्मेष में लगे साधकों की

एकांत कोठरी तक हम यह सिलसिला दिखता है। औपनिवेशिक अनुभव ने जैसे बौद्धिक कर्म को आस-पास फैली दुनिया से नये सिरे से जुड़ने तथा ज्ञान और जगत के बीच चली आयी समझ को नये समय के आलोक में परखने के लिए बाध्य कर दिया। ऐसे में ज्ञान की परम्पराओं की ओर मुड़ना और अपने सोच के औज़ारों की परीक्षा लाज़मी थी, कम से कम उन बुद्धिजीवियों और विचारकों के लिए जो अपने आपको चिंतन की देसी और पश्चिमी परम्पराओं की संधि-रेखा पर खड़ा पाते थे। इसमें अचरज नहीं कि उनके सामने ज्ञान की जीवित देसी धाराएँ एकाएक परम्परा के खाँचे में जा पड़ी थीं। पश्चिमी विश्वविद्यालयों के पौर्वात्य-ज्ञान के बढ़ते ज़खीरे के सामने अब परम्परा शब्द पीछे छूटने का ही नहीं अप्रासंगिकता का भी बोध कराता था। ऐसे में निरुपाय-सा औपनिवेशिक बुद्धिजीवी स्वयं अपनी और अपने औज़ारों की पहचान के साथ ही संस्कृति की लोप होती धारा के चिह्न भी खोजना चाह रहा था। शायद ऐसी शिद्दत, झिझक और नये को सम्भव करने की ज़िद किसी भी सांस्कृतिक और साभ्यतिक मुठभेड़ का ज़रूरी हिस्सा बन जाते हैं, खासतौर पर जब आरोपित सत्ता का ढाँचा किसी बड़े सामाजिक और राजनीतिक बदलाव की भी दिशा तय कर रहा होता है।

आत्म-पहचान, नया विवेक और परम्परा की स्मृति गाहे-बगाहे इस नये बौद्धिक ऊहापोह और संधान के मूल-स्तंभ बन जाते हैं। साथ ही पहचान और स्मरण के ये उपक्रम किसी भी समाज में सोच के बुनियादी सरोकारों से जुड़ते ही बेहद जटिल स्थिति खड़ी कर डालते हैं। जहाँ इस मुठभेड़ में कुछ लोग अन्य संस्कृति के प्रति गहरे आकर्षण और कई बार अपरिचय में मिले ज्ञान की नयी परम्पराओं को यूँ ही किनारे नहीं रख छोड़ते, तो कुछ इस स्थिति में अपनी थाती को बचाने का उन्मादी जोखिम उठा लेते हैं। विचार अपने तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक दायरों से अभिन्न रूप से बँधा होता है— यह बोध औपनिवेशिक बौद्धिकता की जद्दोजहद के केंद्र में आ बैठता है। इसमें उलझा बौद्धिक कई बार तो किसी सरकस के जादूगर की तरह करतब दिखाने में महारत हासिल कर लेता है, और कभी रस्सी पर अपने कदम सँभालता कलाबाज़ बना दिखायी देता है। कई बार वह कुछ नया पाने से ज़्यादा कहीं कुछ छूट न जाये के ख़ब्त का शिकार बन जाता है, तो कई बार सामने खड़े समय से डरा किसी कंदरा में छिपता योगी। कभी गहरे विषाद की छाया उसे घेर बैठती है, तो कभी वह ज्ञान के क्षेत्र में नये को सम्भव करने के संकल्प से युक्त किसी पराक्रमी सा दिखता है। आधुनिक बौद्धिक का यह चरित्र औपनिवेशिक काल की उपज है, जो चाह कर भी अपने कर्म और अपनी पहचान के सवालों को अलग-अलग खानों में रख कर नहीं देख पाता। उसकी नयी चेतना की प्रकृति कैसी होगी, उसका अभिज्ञान कराते कुछ दस्तावेज़ हैं ये तीन लेख। यह एक छोटी विचार-यात्रा है— अतीत की किसी खिड़की को खोलने की भाँति, ताकि हम उस दुनिया की झलक पा सकें जिससे चाहे-अनचाहे प्रतिकृत होने के बावजूद अपने से ओट पाते हैं।

कृष्णचंद्र भट्टाचार्य (1875–1949) आधुनिक भारतीय दार्शनिक चिंतन के सबसे मौलिक और गूढ़ प्रवर्तक माने जाते रहे हैं। उनके चिंतन में प्रमाणशास्त्रों पर आधारित भारतीय दर्शन और मुख्य तौर पर कांट और हेगेल से प्रभावित पश्चिमी भाववादी परम्परा का एक अनूठा संश्लेष दिखायी पड़ता है। यह एकांतिक दार्शनिक चिंतन को एक बड़े साहसिक कर्म में बदल देता है, एक तरह की संस्कृति समीक्षा और अचिंत्य की ओर द्वार खोलता। भट्टाचार्य का दार्शनिक चिंतन सांस्कृतिक नवोन्मेष की पीठिका जैसा है। उपनिवेशवाद से उपजा विस्मरण इस नये दार्शनिक-चिंतक से न सिर्फ़ अपनी परम्परा को परखने में निर्ममता की माँग करता है, बल्कि कई बार वह एक ऐसी निजता का आग्रह भी रखता है, जहाँ समग्रता

और सहकार के मायने बदल जाते हैं। यहाँ प्रस्तुत भट्टाचार्य का लेख 'विचारों का स्वराज' मूलत: हुगली कॉलेज के प्राचार्य की हैसियत से छात्रों की एक सभा में 1928–30 के बीच दिया गया भाषण है, जो आगे चलकर 1954 में 'विश्व भारती जर्नल' के बीसवें अंक में छपा भी। यह लेख उनकी अत्यंत सूक्ष्म और गहन दार्शनिक विवेचन शैली की छाया लिए हुए है, जो सीधे दार्शनिक प्रत्ययों के बजाय अपने समय में विचार की नयी सम्भावनाओं पर केंद्रित है। राष्ट्रीय आंदोलन की राजनीतिक और सामाजिक स्वाधीनता की उग्र माँगों की पृष्ठभूमि में वैचारिक स्वराज का यह प्रश्न नये उद्वेलन के विचार लिए था। सूत्रों में न्यस्त भारतीय चिंतन शैली को भट्टाचार्य ने आधुनिक वैचारिक और दार्शनिक निबंध के ढाँचे में साध लिया था। बिना किसी आडम्बर या स्फीति के बौद्धिक कसाव के साथ कठिन साँचे में ढले वाक्यों की यह शैली जैसे सिर्फ़ उनकी होकर रह गयी हो। उनका चिंतन आधुनिक भारत में भाषा और सोच के बेहद जटिल सवाल की ओर भी इशारा है, जो हमें निरे भाषाई देशजपन को दुराग्रह में बदलने से रोकता है। भट्टाचार्य जिस अंग्रेज़ी भाषा जो कि एक तरह का औपनिवेशिक दाय है— को अपने सोच के माध्यम में बदलते हैं, वह स्वयं एक उपलब्धि है। उनकी भाषा अपने भीतर सोच और संवेदना की कई देशज लिपियाँ भी समेटे हुए है। भट्टाचार्य इस प्रकार आधुनिक भारत में नये चिंतन के मूल शिल्पियों में ठीक ही गिने जाते हैं।

वे जहाँ एक ओर राजनीतिक दासता को सिर्फ़ बाहरी जीवन को प्रभावित करने वाली घटना न मानकर उसके किसी समाज के आंतरिक लोक में पैठ जाने की याद दिलाते हैं, वहीं इस बदलाव के बीच सोच की आज़ादी को बचाये रखने की ज़रूरत की भी बात करते हैं। उनके अनुसार सांस्कृतिक दासता अवचेतन स्तर पर प्रभावित करती है; हालाँकि परायी संस्कृति से सामंजस्य, बशर्ते कि वह अपनी आज़ादी की कीमत पर न हो, ज़रूरी है और वह नये जीवन का संचार भी करता है। कई बार नयेपन के नाम पर परायी संस्कृति प्रेत की तरह सवार हो जाती है। यह चेतना की ग़ुलामी है, यदि कोई इसे उखाड़ फेंके तो नयी दृष्टि का जन्म होता है और यही 'विचारों का स्वराज' है। इस दासता ने, भट्टाचार्य आगे कहते हैं, पश्चिमी शिक्षा के फैलते प्रभाव में अपनी पुरानी संस्कृति को महज़ कौतूहल की चीज़ में बदल छोड़ा है। हमारा नव-शिक्षित समाज जब कभी देशज संस्कृति में रुचि दिखाता भी है तो उसे अपनी इयत्ता की खोज से जुड़ा नहीं पाता। पश्चिमी संस्कृति अपने आप में विचारों और संवेदनाओं का एक पूरा ढाँचा है, जो हम पर आरोपित है। एक ख़ास भाषा, उसके मुहावरे और संस्थाओं से जुड़े विचार और उन पर क़दम-ताल एक तरह के प्राणहीन सोच को जन्म देते हैं, मानो सच्ची रचनात्मकता के लिए भी छाया-मानस ही यथार्थ प्रतीत होता हो। भट्टाचार्य औपनिवेशिक बौद्धिक के मानस की नयी बनावट को एक तरह की छलना के रूप में उजागर करते हैं, हालाँकि वे इससे मुक्ति सिर्फ़ छूटती परम्परा की ओर वापसी या प्रत्यभिज्ञान में ही नहीं देखते। वे औपनिवेशिक क्षण की उपस्थिति को स्वीकार करते हुए परम्परा की उपलब्धि और अन्य परम्पराओं से जुड़ाव के बीच विचार-कर्म की नयी सृजनात्मक सम्भावनाओं की बात करते हैं। वे इसका भी ध्यान दिलाते हैं कि इन सम्भावनाओं के सबसे महत्त्वपूर्ण वाहक वे होंगे जो देशज भाषाओं में सोचते हों।

सांस्कृतिक दासता अवचेतन स्तर पर प्रभावित करती है; हालाँकि परायी संस्कृति से सामंजस्य, बशर्ते कि वह अपनी आज़ादी की कीमत पर न हो, ज़रूरी है और वह नये जीवन का संचार भी करता है।

बौद्धिक कर्म अंतत: एक तरह का रचनात्मक व्यापार है— यह तथ्य भट्टाचार्य बार-बार सामने लाते हैं, इस संकेत के साथ कि

विचारों के बोध और रचना के केंद्र में भाषा और संस्कृति के विशिष्ट रूप बड़े मायने रखते हैं। आगे वे आधुनिक समय में विचार, ख़ासतौर से पश्चिमी ज्ञान की रोशनी में जिस तरह परिभाषित होता रहा है, से जुड़ी दो मूल अवधारणाओं सार्वभौमिकता (युनिवर्सलिज़म) और बुद्धिवाद (रैशनैलिटी) के औचित्य पर औपनिवेशिक संदर्भ में विचार करते हैं। इस जटिल गुत्थी को खोलते हुए वे अनायास ही हमारे समकालीन बन जाते हैं। हमें सहसा यह भी भान होता है कि इसके बावजूद कि भट्टाचार्य के इस भाषण के बहाने 'विचारों में स्वराज' का मुहावरा चलन में आ गया हो, उसे सचमुच अर्जित करने का रास्ता इसे सूत्र भर दुहराना मात्र नहीं। यह देखना बेहद रोचक है कि भाषण के आगे के हिस्से में वे ऐसे स्वराज की कोई कुंजी भले ही न सुझाएँ, पर किन मूलभूत तत्त्वों को अपने समय के विचार के संदर्भ से जोड़ने की ज़रूरत होगी इसकी ओर हमारा ध्यान खींचते हैं। विचारों के स्वराज का पथ दिया हुआ नहीं होता। हर समय में उसे ख़ास स्थितियों में रचना होता है।

बौद्धिक कर्म अंततः एक तरह का रचनात्मक व्यापार है। भट्टाचार्य बार-बार सामने लाते हैं, इस संकेत के साथ कि विचारों के बोध और रचना के केंद्र में भाषा और संस्कृति के विशिष्ट रूप बड़े मायने रखते हैं।

भट्टाचार्य अपने इस भाषण में एक ऐसे दार्शनिक की भाँति विचार करते हैं, जो ख़ुद को इतिहास के बाहर खड़ा नहीं पाता। वह सार्वभौमिकता और बुद्धिवाद दोनों प्रत्ययों को अस्वीकार करने के बजाय उन्हें परखता हुआ अपने ऐतिहासिक और समकालीन संदर्भ में नये रूप में ढालने की कोशिश करता है। हमें याद रखना चाहिए कि भट्टाचार्य एक गम्भीर दार्शनिक हैं और कोई भी प्रत्यय उनके लिए गहरे विश्लेषण की माँग करता है। भट्टाचार्य के लिए वैचारिक रचनात्मकता भी हमारे रोज़ के व्यवहार में दिखती है और कई बार आंतरिक समझ से पायी गयी सच्चाई किताबी ज्ञान से अलग-थलग पड़ी रहती है। वे विचारों के स्वराज के रास्ते तलाशते अपने समय को लेकर किस क़दर सचेत हैं यह उनके द्वारा राजनीति के क्षेत्र में सत्ता जैसी भयावह और अँधेरी चीज़ या समाज सुधार में पारम्परिक सामाजिक सरंचना की आंतरिकता की ओर ध्यान न जाने की याद दिलाने से ज़ाहिर होता है। प्रतिभा भले ही कला में भारतीय आत्मा की विशिष्टता को उजागर कर दे, दर्शन ही हमें व्यवस्थित रूप से इसकी जानकारी दे सकता है— यह चेतावनी भी वे देते हैं।

उनके अनुसार सोच-विचार की दुनिया में दिखता घाल-मेल और शोर इस बात की ओर इशारा है कि हमारे विचार संकर हैं और बासी भी। कहीं न कहीं इससे उबरने का रास्ता भाषा की कठिनाई से जुड़ा है। आदर्शों और विचारों का आत्यंतिक जुड़ाव ही भट्टाचार्य के अनुसार सार्वभौमिकता की ओर ले जाता है। विचार-तत्त्व या तर्क सार्वभौम हो सकते हैं, लेकिन विचार हर एक संस्कृति में अपने-अपने ढंग से रचे जाते हैं। इस बाबत एक संस्कृति के विचारों का दूसरे में अनुवाद सम्भव नहीं होता क्योंकि वह उस संस्कृति के आदर्शों से जुड़ा होता है। लेकिन सिर्फ़ इतने से भट्टाचार्य की इस विवेचना में कुछ भी मौलिक या नया नहीं जान पड़ता। आख़िरकार संस्कृतियों से बँधे आदर्शों की चर्चा यूँ भी औपनिवेशिक युग से लगातार सुनायी पड़ती रही है और अक्सर वह हमें विचारों की किसी तंग गली में छोड़ आती है।

भट्टाचार्य की सांस्कृतिक दृष्टि की भी झलक हम उनके इस भाषण में पाते हैं, जो शायद हमें उनके दार्शनिक चिंतन की मौलिकता को समझने में भी मदद करे। भट्टाचार्य के अनुसार विचारों की पच्चीकारी जिस तरह विद्वत्ता के विवेक को असहज जान पड़ती है, वैसे ही आदर्शों का घाल-मेल या गठजोड़ तात्त्विक-

दृष्टि के लिए। फिर भी संस्कृतियों की सीमा के बावजूद सामंजस्य की गुंजाइश हमेशा बनी रहती है। लौकिक जीवन अपने को नयी स्थितियों में ढालने की माँग करता है और आध्यात्मिक आदर्शों से बँधा रहता है। भट्टाचार्य औपनिवेशिक युग में स्वार्थों की आक्रामकता ही नहीं, वरन आदर्शों की आक्रामकता की बात भी करते हैं। पारम्परिक आदर्शों का फिर इन थोपी गयी स्थितियों में क्या हो! वे तीन सम्भावनाओं की बात करते हैं जिनके अनुसार हम नये आदर्शों का उन्हें अपनाये बग़ैर सम्मान कर सकते हैं, बिना किसी समझौते के एक संयोग तैयार कर सकते हैं, या उन्हें अपने ही आदर्शों की पूर्ति करते पा सकते हैं। लेकिन हर हाल में बिना सामंजस्य की पच्चीकारी विफल साबित होगी। आदर्शों का संयोग यदि किसी विनत आशा में सम्भव हो तो वह निरा समाधान नहीं बना रह जाता। आदर्शों का टकराव हमारी चेतना को गहराई प्रदान करता है। कुछ आदर्शों का हम सम्मान करते हैं— बिना संयोग की आकांक्षा के और कुछ को हम अपने मुहावरे में ढाल लेते हैं। लेकिन हर हाल में पूरी मानव-जाति के लिए किसी सार्वभौम धर्म या क्षेत्र में किसी अमूर्त स्वयं-प्रकाशित आदर्श की आशा मरीचिका ही बनी रहती है। इस प्रकार मानव संस्कृतियों के बीच सहिष्णुता और सामंजस्य का आदर्श भट्टाचार्य के अनुसार उनकी विशिष्टता की पहचान से होकर ही गुज़रता है, किसी सार्वभौम सामान्य भूमि की खोज में नहीं। वे विचारों के स्वराज के प्रश्न को संस्कृतियों और उनके आदर्शों की ख़ासियत से जोड़कर नैतिक दर्शन के एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न में बदल डालते हैं। यह प्रश्न उनके इस मूलभूत विश्वास से उपजता है कि संस्कृति और उनके आदर्श अपने आप में बंद खानों की तरह नहीं होते बल्कि संवाद और साहचर्य के बीच ही अपनी विशिष्टता अर्जित करते हैं। भट्टाचार्य बहुत दबे स्वर में यह चेतावनी देते हैं कि कहीं संस्कृतियों, समुदायों और धर्मों तथा उनके आदर्शों को किसी सार्वभौम सिद्धांत में समेट न लिया जाए। वे दूर से आये विचारों के प्रति सिर्फ़ सम्मान से आगे जाकर आदर्शों, जो विचारों को अनुप्राणित करते हैं, के बीच लेन-देन की चर्चा करते हैं। यह एक तरह की साझेदारी की अपील है— विचार की दुनिया में, अपनी ज़मीन और पहचान खोये बग़ैर।

भट्टाचार्य बहुत दबे स्वर में यह चेतावनी देते हैं कि संस्कृतियों, समुदायों और धर्मों तथा उनके आदर्शों को किसी सार्वभौम सिद्धांत में समेट न लिया जाए।

यों तो भट्टाचार्य सीधे-सीधे इतिहास की बात नहीं करते, लेकिन उनमें विचार-कर्म अपने सामने और बीते समय से कितने गहरे जुड़ा है इसकी गहरी प्रतीति है। उनके काल-बोध का मूल-प्रत्यय परम्परा है, इतिहास नहीं। और इसलिए सार्वभौमिकता की अवधारणा सर्वथा बेमानी नहीं, वह मनुष्यता के विकास के साथ आदर्शों के मंथर सुलझाव और एका का अर्थ लिए है। उनके अनुसार यह प्रक्रिया हमें सामान्य युक्तिपरकता की ओर ले जाती है, जो एक तरफ़ तो परम्परागत संवेदनाओं को पारदर्शी आदर्शों में बदलती है और दूसरी तरफ़ आदर्शों का सामान्यीकरण ज़रूरी और ग़ैर-ज़रूरी के फ़र्क़ द्वारा करती है। लेकिन यह भी सच है कि जीवन की व्यावहारिकता के सामने आदर्शों के निथरने की प्रतीक्षा अपना अर्थ खो देती है, साथ ही विचारों और आदर्शों के लोक में सामंजस्य और व्यवस्था अकूत धैर्य और उदारता की माँग करते हैं। भट्टाचार्य के अनुसार यही सच्ची बुद्धिपरकता है।

औपनिवेशिक स्थितियों में विचारों के जटिल लोक को समझने में उनके ये कुछ सूत्र हमें चौंका देते हैं, ख़ासतौर पर जब धैर्य, सहिष्णुता और विनम्रता का दायरा स्वयं हमारे अपने समय में लगातार सिमटता और धुँधला जान पड़ता हो। आधुनिक समय में विचारों की सम्भावना पर मनन करते हुए इस प्रकार वे सार्वभौमिकता

और बुद्धिवाद जैसी परिचित अवधारणाओं की नयी परिभाषा हमारे सामने रखते हैं। विचारों के संदर्भ में कई बार परायापन या विदेशीपन बहुत क़रीब से देखने पर हमारे अपने ही आदर्शों की ज़्यादा सहज और गहरी अभिव्यक्ति जान पड़ता है। भट्टाचार्य के चिंतन में विचारों का लोक सहभाव का लोक है और इसलिए बुद्धि की सार्वभौमिकता हमेशा रची जा रही होती है। उनके अनुसार सार्वभौम मनुष्य की चेतना मात्र है। किसी नये आदर्श से साक्षात्कार हमारे अपने वस्तुगत आदर्शों के माध्यम से ही हो सकता है, और सम्मान का नया भाव पुराने को गहरा देने से ही उपज सकता है। आगे वे गहरे क्षोभ से यह कहते हैं कि भारत का नया शिक्षित वर्ग एक तरह की जड़हीन सार्वभौमिकता का कायल है। और यह भी कि अपने अतीत या आज की स्थिति का आकलन विदेशी मानकों और अंधे स्वीकार से नहीं, बल्कि आलोचनात्मक विवेक से होना चाहिए। अन्य संस्कृतियों से आये विचार रूपकों और प्रतीकों के रूप में देखे जा सकते हैं, जिन्हें देशज प्रत्ययों में अनूदित किया जा सकता है। वे अपने भाषण के अंत में बाहर से आये विचारों को देशज विचारों में ढालने के पैरोकार सुनायी पड़ते हैं, ताकि अपने प्रत्ययों में शिद्दत से सोच-विचार सम्भव हो सके। राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में चल रहे आंदोलनों की गूँज भट्टाचार्य के भाषण में सुनायी पड़ती है, जहाँ सामान्य जन किसी-न-किसी रूप में धुरी बन पड़ा है। लेकिन क्या उसके जीवन और चेतना में धड़कते विचारों के बारे में हम सोच पाते हैं देशज चिंतन की बात करते हुए— भट्टाचार्य हमसे पूछते हैं।

श्री अरविंद (1872-1950) एक साथ ही क्रांतिकारी, योगी और कवि माने जाते रहे हैं और अपने तईं संकोच के बावजूद एक मौलिक दार्शनिक भी। यहाँ प्रस्तुत लेख 'मौलिक चिंतन के बारे में' उनके अप्रकाशित निबंधों और टिप्पणियों के संग्रह से लिया गया है। ये लेख 1910 से 1913 में उनके पांडिचेरी पहुँचने पर लिखे गये थे और उनके जीवन काल में अप्रकाशित ही रहे। इनमें से अधिकांश कच्चे और अधूरे थे। लेकिन इसके बावजूद ये लेख उनकी विचार-यात्रा में संक्रमण के महत्त्वपूर्ण चिह्न हैं। उस समय वे अपनी लेखन की लम्बी साधना की ओर मुड़ रहे थे। उनके लिए ये साल, यों बड़ौदा प्रवास के क्रम में ही, अपनी सांस्कृतिक और वैचारिक परम्परा के अवगाहन के उद्धत योग के भी थे। श्री अरविंद की मूल शिक्षा, बहुत कम उम्र में पिता द्वारा इंग्लैंड भेज दिये जाने के कारण, मध्यवर्गीय अंग्रेज़ी परिवारों के तर्ज़ पर हुई थी। अपनी भाषा और परम्परा से यह दूरी युवा अरविंद के लिए अपनी धरती से निर्वासन-सा ही साबित हुई, जिससे उबरने के लिए उन्होंने अपने बड़ौदा प्रवास में ज्ञान की नयी धाराओं की खोज शुरू की— संस्कृत, बांग्ला, तमिल आदि भाषाओं से लेकर वेदों, उपनिषदों और महाकाव्यों को पढ़ कर। चिंतन की मौलिकता पर लिखा गया उनका यह लेख यह दर्शाता है कि किस तरह वे एक लम्बी परम्परा से गुज़र कर नयी राहें खोज रहे थे। कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य जिस नवशिक्षित औपनिवेशिक मानस की बात करते हैं, श्री अरविंद अपने जीवन के आरम्भिक दौर में जैसे उस मुहिम के सबसे बड़े उदाहरण बनाये जा रहे थे।

अरविंद हमारे विचारों की मौलिकता से जुड़े उस मूल विरोधाभास को दर्शाते हैं जिसके कारण एक तरफ़ तो हम उसके दुर्निवार आकर्षण से खिंचे चले जाते हैं, दूसरी तरफ़ उसके ख़ौफ़ से भी घिरे रहते हैं। कई बार तो हम मौलिकता की खिल्ली भी उड़ाते हैं। मौलिकता का गुण निस्संदेह हमारी स्थापित मान्यताओं को गड्ड-मड्ड कर देता है। बहुत सारे समाज, अरविंद जिन्हें तामसिक गुण वाला बताते हैं, विचारों की आज़ादी का दमन करते हैं। उनके यहाँ मुख्य सूत्र प्रभुत्व या अधिकार का होता है। भारत उनके अनुसार अपने बाद के काल में तामसिक हो चला है, जितना कि बहुत कम समाज हुए हैं। बहुत कम समाज अपनी जड़ता से इस क़दर चिपके रहे हैं और अपने प्रभुत्व को इतना महत्त्व

देते हैं। यह जीवन शास्त्रों और प्रथाओं द्वारा तय होता है, और सारे विचार धर्म-ग्रंथों और भाष्य द्वारा। फिर भी व्यक्तिगत आध्यात्मिक अनुभूति के दायरे में प्राचीन स्वाधीनता का आदर्श और मौलिकता बचे रहे हैं, जो कि अजस्त्र स्रोत की तरह हैं जिनसे नयी प्रेरणा और जीवन मिलते हैं। अरविंद यह मानते हैं कि हिन्दू धर्म की विविधता के भीतर एक जातीय प्राणवत्ता बची रही है। यह एक तरह के लौकिक चमत्कार की तरह है— पंडितों के रूखे शास्त्रीय ज्ञान के बरक्स, जिसे मूलतः शंकर, रामानुज, नानक, कबीर और चैतन्य जैसे सुधी विचारकों ने बचाए रखा है।

अरविंद अपने समाज में भारतीय मनीषा को लगातार क्षरित और अवरुद्ध होते देखते हैं। ख़ासतौर पर नयी परिस्थितियों और नये ज्ञान के सामने तो लाचारी ही झलकती है। यूरोपीय संपर्क से आये इस नये ज्ञान को वे थोपा हुआ मानते हैं, इसके बावजूद उसे पचाने, नकारने और उसमें से बीनने-चुनने के भी प्रयास हुए हैं। लेकिन नये ज्ञान का सही साक्षात्कार और स्वीकृति भी उसकी गहरी जानकारी की माँग करता है, जिसके बजाय हम उसके द्वारा अधीन कर लिए गये दिखते हैं। सही नकार भी विवेकपूर्ण समझ के बाद ही सम्भव है। हिन्दू संस्कृति के अनुसार अधिकांश चीज़ें बिना जाने और परखे स्वीकार की जाती रही हैं। वे शोक जताते हुए कहते हैं कि हमारा अपना कुछ भी नहीं है जो हमरा देशज विवेक से जुड़ा हो, सब कुछ उधार लिया हुआ है। हम इस नये ज्ञान को ठीक से समझ नहीं पाये हैं। किसी नयी या पुरानी चीज़ की समझ बनाने और उससे ग्रहण के लिए रूढ़िगत ज्ञान, चाहे वो पण्डितों या विदेशियों का हो, से हट कर हर बार जो चीज़ जैसी हो उसी रूप में उसे जान कर पायी जा सकती है। इस बदहाली के दृश्य के बीच अरविंद भारतीय मानस में बची दक्षता और क्षमता को भी रेखांकित करते हैं। वे इस बात की ओर इशारा करते हैं कि नये ज्ञान की चमक से भरी नक़ल तो सम्भव हुई है, लेकिन कारगर ढंग से सोचने की कला नहीं विकसित हो पायी है। वस्तुओं, विचारों और परिस्थितियों के मूल ताने-बाने को समझने में हम विफल रहे हैं। ऐसे में अपनी बौद्धिक आज़ादी को अर्जित करने का क्या रास्ता बचता है! सुधारक और अंग्रेज़ी ढब के लोग एक के बदले दूसरा ढाँचा सौंपना चाहते हैं। अरविंद अनुसार भारतीय मनीषा की उपलब्धियों को पश्चिम ज्ञानोदय की रोशनी में बदलना एक ओछा सौदा साबित होगा।

वे आगे कहते हैं कि हमें अपनी ज़ंजीरें तोड़नी होंगी— सच अख़्तियार करने के लिए, सिर्फ़ यूरोप के नाम पर नहीं। भारतीय युवकों को सारे पूर्वग्रहों, वाक्-चातुर्य और तर्क-छल से आगे जाकर स्वतंत्र-चेता होकर विचार का साहस अपनाना होगा। पुरानी जड़ीभूत मान्यताएँ टूट चुकी हैं, और हम किसी बड़े बदलाव की लहरों में ऊब-डूब हो रहे हैं। दोयम दर्जे के पश्चिमी ज्ञान की जगह हमें शाश्वत सत्य का कलश पाना होगा, पुरातन अटल चट्टान पार कर उतरना होगा। मौलिक चिंतन सम्भव हो इसके लिए हमें हर चीज़ को सवालों के घेरे में लाना होगा। हमारी सोच में क्या सच्चा और दीर्घजीवी है इसकी खोज के लिए हमें जतन और निरपेक्ष भाव से जाँचना होगा। जहाँ यूरोप जड़ होता दिखता है। वहीं भारत में अजेय वैयक्तिक आध्यात्मिकता की सोयी ऊर्जा है। अरविंद मौलिक विचार को अंततः कर्म की मौलिकता से जोड़ते हैं, जो कि तभी सम्भव है जब विचारों का आधार सुदृढ़ हो। उनके अनुसार हमारे भीतर यह आश्वस्ति होनी चाहिए कि हमारी नयी सोच के डैने बेहद चौड़े और मज़बूत हों। उनमें इतना फैलाव चाहिए कि हम किसी भी चीज़ को नष्ट

ज्ञान की चमक से भरी नक़ल तो सम्भव हुई है, लेकिन कारगर ढंग से सोचने की कला नहीं विकसित हो पायी है। वस्तुओं, विचारों और परिस्थितियों के मूल ताने-बाने को समझने में हम विफल रहे हैं।

करने के पहले उसकी पूरी समझ पा लें। वे इस प्रकार एक तरफ़ तो स्वतंत्र चिंतन की माँग करते हैं, दूसरी तरफ़ पारम्परिक निर्मितियों के सत्व को पहचानने की भी बात करते हैं। परम्परा, नयापन और मौलिकता के संबंधों को अरविंद स्वतंत्र विवेक से परखने और स्थापित करने का स्वप्न देखते हैं। विचारों के क्षेत्र में स्वीकार और त्याग नये और पुराने के जीवित तत्त्वों को साधने से जुड़ा है। वे सुधारकों या अंग्रेज़ी तरीक़ों को अपनाने वालों से अलग हट कर मनुष्य की स्वतंत्र चेतना की प्रतिष्ठा की माँग करते हैं— एक ऐसी नवीनता की सम्भावना जहाँ परम्परा के भीतर मौजूद मूल उत्स का भी संमरण हो सके। परम्परा की ओर लौटना उसके प्रति साधना और विनम्रता दोनों की माँग करता है, लेकिन नये की सम्भावना इसके साथ ही नकार का दुस्साहस भी खोजता है। अरविंद के अनुसार यह तभी सम्भव है जब स्वीकार या त्याग गाढ़े परिचय और स्वतंत्र मीमांसा का प्रतिफल हो।

हम यहाँ इन दोनों लेखों से अलग और आधी सदी से भी ज़्यादा समय बाद लिखा गया ए.के. रामानुजन (1929-93) का बहु-चर्चित लेख 'क्या चिंतन का कोई भारतीय तरीक़ा है?' भी दे रहे हैं। यदि पहले दो लेख राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में बेहद सजग विचारकों द्वारा दर्शन, सोच और परम्परा की नयी सम्भावनाओं की विकल खोज जान पड़ते हैं, तो रामानुजन का लेख एक कवि, वैयाकरण और लोकविद की अंतर्दृष्टि से जुड़ा परम्परा का कौतुक भरा भाष्य प्रतीत होता है। मानो एक कुशल लोक-कलाकार के खेल-तमाशे के पीछे कोई शास्त्रज्ञ सूत्रधार बना बैठा हो। रामानुजन का यह लेख एक तरह का कैलाइडोस्कोप (बच्चों की काँच से बनी छूते ही बहुरंगी आकृतियाँ बनाता खिलौना) है, जिसमें 'भारतीय' और 'भारतीयता' जैसे सर्वसमावेशी प्रत्यय सभ्यता, राष्ट्रीयता या अन्य क़िस्म की मूल अस्मिता जैसे सरोकारों से जुड़कर अपनी नयी बनावट में प्रकट होते हैं। उपनिषदों से लेकर लोक कथाओं तक, महाभाष्य से मनुसंहिता तक, दासिमय्या से नम्मलवार तक, और बौद्ध जातकों से लेकर टी.एस. इलियट के वेस्ट लैंड तक विभिन्न कालखण्डों तथा ज्ञान और सृजन की विविध परम्पराओं में फैले उद्धरणों के आपसी संवाद से रामानुजन चिंतन के दायरे में भारतीयता की तलाश को एक दिलचस्प पहेली में बदल डालते हैं।

उनका यह लेख लम्बी सांस्कृतिक, भाषाई और शास्त्रीय परम्परा के टुकड़ों को एक नये सूत्र में बाँध कर हमारे सामने रखता है। चिंतन की शैली पर विचार करता यह लेख स्वयं जैसे किसी विधि की तलाश है, जिसे वे महज़ एक 'अनौपचारिक लेख' कहते हैं। रामानुजन का भारतीय सोच की मूल प्रवृत्तियों की क्लीशे बन गयी खोज को कहीं बहुत आगे ले जाकर इस प्रश्न 'क्या चिंतन का कोई भारतीय तरीक़ा है?' के घटक शब्दों के ही अन्वेषण में बदल देते हैं। प्रश्न पूछे जाने के तरीक़े प्रश्नों से कम मायने नहीं रखते और हर प्रश्न अपने पूछे जाने की शैलियों और पूर्वग्रहों से बँधा है— रामानुजन इसकी याद दिलाते हैं। उनका यह लेख कृष्णचंद्र भट्टाचार्य और अरविंद सरीखे राष्ट्रीय दौर के विचारकों के प्रश्नों के मूल में बैठी सांस्कृतिक चेतना पर भी विचार करने को प्रेरित करता है, ख़ासतौर पर लोक और शास्त्र की बहुविध जीवन शैलियों में चल रही चिंतन सरणियों के आपसी रिश्तों को सामने रखकर। हमें अचानक याद आती है भट्टाचार्य की चेतावनी— सामान्य भारतीय जन के भीतर चल रहे विचारों की सम्भावना को तलाशने की। रामानुजन के इस लेख की पृष्ठभूमि स्वयं उनका अपना रचनात्मक कर्म है, जो दो दुनियाओं और अलग-अलग भाषाओं में ही फैला न था, बल्कि दक्षिण एशियाई अध्ययन और सांस्कृतिक विशिष्टताओं की संरचना के लम्बे अध्ययन से भी जुड़ा था। इनमें से अधिकांश औपनिवेशिक ज्ञान की परम्पराओं से किसी न किसी रूप में प्रभावित और विकसित हुए हैं। रामानुजन का लेख ऐसे मूलगामी प्रश्नों के संदर्भ में विचार के स्थान और उसके

संस्कृतियों से जुड़ाव की प्रक्रियाओं पर मनन है। वे आख़िरकार भारतीय सोच की पद्धति की मूल बनावट को दर्शाते हैं— जो कि संदर्भ-बद्ध है और जिसे आधुनिकता पूरी तरह जज़्ब नहीं कर पाती। बल्कि यह संदर्भबद्धता आधुनिकता को एक नयी परिघटना में बदल देती है। सोच अपने संदर्भ से अलहदा नहीं होता और न ही संस्कृति सोच की प्रक्रिया और उसकी सम्भावनाओं में बाधा बनती है। सच पूछें तो संदर्भबद्धता की भी एक स्वाधीनता होती है, जो हर सोच के लिए चुनौती खड़ा करती है और स्वाधीनता के नये द्वार खोलती है। रामानुजन यही इंगित करते हैं।

'क्या चिंतन का कोई भारतीय तरीक़ा है?'— इस प्रश्न को रामानुजन नाटक के संवाद के किसी टुकड़े की तरह उठाते हैं, जिसके अर्थ की सम्भावनाएँ अलग-अलग अभिनेताओं के स्वरों के उतार-चढ़ाव के कारण बदलती हैं। इसके उत्तर की ऐसी परिपाटी बन गयी है कि कई बार तो यह प्रश्न बहुत मायने नहीं रखता। फिर भी यह लेख हमें बताता है कि इस प्रश्न के भीतर ही आधुनिक भारतीय सोच की सारी गुत्थी छिपी पड़ी है। रामानुजन इस परिपाटी की याद कुछ परिचित जुमलों के माध्यम से कराते हैं। मसलन कइयों के लिए वह भारत जो कभी नहीं बदलता, जहाँ शहरों से दूर गाँवों में पारम्परिक ज्ञान के जानकार अपनी पोथियों में उसकी मूल आत्मा समेटे बैठे हैं, और कइयों का मानना है कि आधुनिकता के चोगे में भी भारतवासी वेदों-सा ही सोचता है। रामानुजन शुरुआत में इस प्रश्न से उपजे उत्तरों को हर शब्द पर ख़ास ज़ोर देने की स्थिति में हमारे सामने रखते हैं। कोई एक तरीक़ा शायद है ही नहीं भारतीय सोच का— छोटी और बड़ी परम्परा प्राचीन और आधुनिक, ग्रामीण और शहरी, श्रेण्य और लोक के चश्मे से देखे जाने पर। कोई ठीक तौर पर भारतीय तरीक़ा भी आख़िरकार आश्चर्य में डालता है— औद्योगिक, कृषक, सामंतवादी जैसे इतिहास के युगों की बदलती धारणाओं के सामने अलग-अलग विचार-दृष्टियाँ इसे अपने ढंग से समझती हैं, और इन सबके बीच ख़ास भारतीय तरीक़ों की व्याख्या चलती रहती है। औपनिवेशिक काल में मंत्र की तरह दोहरायी जाने वाली सूक्ति आज भी हमारे बीच है कि एक भारतीय तो सच पूछें तो सोच-विचार कर ही नहीं सकता— धर्म का ऐसा प्रभुत्व है उसकी बुद्धि और मन पर।

रामानुजन इन जानी-पहचानी व्याख्याओं को इस लेख में जैसे सिर के बल खड़ा कर देते हैं। इसलिए नहीं कि यह प्रश्न गणित के किसी अनसुलझे सवाल में बदलकर रह जाए, बल्कि इसलिए कि भारतीय जीवन और सोच की जिन विधियों को हम विरोधाभास समझते हैं, वे किसी अपरिचित युक्ति से बँधे होने के कारण हमसे छिपे न रह जाएँ। संस्कृतियों की संरचना गणित के सूत्रों या व्याकरण के नियमों जैसे प्रसायों से नहीं समझी जा सकती। रामानुजन ऐसे किसी स्पष्ट सूत्र को हमारे सामने रखना भी नहीं चाहते। सच तो यह है कि वे इस समस्या का हल नहीं खोजते बल्कि उसकी भीतरी बनावट में छिपी दृष्टि को आलोकित भर करना चाहते हैं। उनके अनुसार यह समझ कई बार हमारे अपने आस-पास के हालात पर ग़ौर करने से बनती है। जैसे उनके विद्वान गणितज्ञ पिता का ज्योतिष शास्त्र में विश्वास सिर्फ़ एक व्यक्ति के भीतर विरोधाभासों का पलना न होकर औपनिवेशिक काल के एक बौद्धिक की सांस्कृतिक उलझनों और स्थिति पर भी टिप्पणी है। इसी प्रकार वे अलग-अलग समुदायों के बीच रहकर किये गये अध्ययनों के हवाले से उनके अनुसार भारतीयता की अवधारणा की सरल व्याख्याओं पर प्रश्न

'क्या चिंतन का कोई भारतीय तरीक़ा है?'— इस प्रश्न को रामानुजन नाटक के संवाद के किसी टुकड़े की तरह उठाते हैं, जिसके अर्थ की सम्भावनाएँ अलग-अलग अभिनेताओं के स्वरों के उतार-चढ़ाव के कारण बदलती हैं।

खड़े करते हैं।

अपने भीतर के वैयाकरण और भाषाविद के संयोग के बहाने अंततः रामानुजन हमारे सामने एक व्याख्या ज़रूर रखते हैं। उस का सूत्र उनके अनुसार यह है कि संस्कृतियाँ मोटे तौर पर आदर्शीकरण का सहारा लेती हैं और व्याकरण के एक सुपरिचित नियम के ज़रिये कहें तो संदर्भ-मुक्त या संदर्भ-संवेद्य मुख्यतः इन दो तरीकों से सोचती हैं। भारतीय परम्परा में धर्म की अनेक व्याख्याएँ इसका सबसे बड़ा उदाहरण हैं कि इस परम्परा में संदर्भबद्ध सोच को ही प्राथमिकता मिलती है। इसके अनुसार नियम या विधियाँ अपने ख़ास संदर्भों में ही अर्थवान होती हैं, सार्वभौम रूप से नहीं। इस बात को और गहराई से समझने के लिए रामानुजन सबसे दिलचस्प उदाहरण भारतीय साहित्य परम्परा से जोड़ कर देते हैं। उनके अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी के पहले कोई भी भारतीय ग्रंथ बिना किसी खास संदर्भ और ढाँचे के नहीं होता था। पाठक, रचनाकार या वाचक और किसी कृति से जुड़ा फल अपने व्यापक काल के चौखटों से जुड़ कर ही अर्थवान होता था। ग्रंथ अनाम या किसी तिथि के बग़ैर हो सकते थे, परंतु उनका संदर्भ, उपयोग और फल अवश्य प्रकट होते थे। इस परम्परा में ग्रंथ, ख़ासतौर से महाकाव्य, अपने उत्स और कथा की परिकल्पना पर भी विचार करते होते हैं। रामानुजन हमें बताते हैं कि ये ग्रंथ गहरे आत्म-बोध से भरे हैं, किसी जीवित इकाई की तरह। इन परम्पराओं का अपनी प्रति-परम्पराओं के साथ लगातार बढ़ते रहना इसका प्रमाण रहा है। उनका का यह लेख भारतीयता और उससे जुड़े सोच की औपनिवेशिक बोध के निर्माण में विडम्बना को भी उजागर करता है। यह बोध मुख्यतः ग्रंथों पर आधारित रहा है और कहीं दुहरी विडम्बना का शिकार उनकी रचना को न समझ कर हुआ है। उनकी यह टिप्पणी हमारे लिए बहुत मायने रखती है कि भारतीय ग्रंथ महज़ बेतरतीब कागज़ों का पुलिंदा या कामचलाऊ कोश माने जाते रहे हैं, जबकि संदर्भ-संवेद्यता इस ग्रंथ परम्परा के केंद्र में रही है एकता नहीं सुसंगति इनका साध्य रहा है।

संस्कृतियाँ मोटे तौर पर आदर्शीकरण का सहारा लेती हैं और व्याकरण के एक सुपरिचित नियम के ज़रिये कहें तो संदर्भ-मुक्त या संदर्भ-संवेद्य, मुख्यतः इन दो तरीकों से सोचती हैं।

संस्कृति की व्याख्या का मूल अनुशासन मानवशास्त्र जिस प्रकृति और संस्कृति के बीच के द्वैत पर टिका है, रामानुजन उसके बरक्स प्राचीन तमिल गीति-परम्परा को रखते हुए दर्शाते हैं कि किस प्रकार संस्कृति का गूढ़ व्याकरण इसमें पढ़ा जा सकता है। बाहर और भीतर के लोक अपने अलगाव में नहीं बल्कि सायुज्य और एक दूसरे के प्रतिबिम्बन से जुड़े हैं। दोनों लोक अलग होकर भी एक-दूसरे की प्रतिकृति बन जाते हैं। रामानुजन के अनुसार तमिल काव्य की यह शैली एक तरह का अंतर्लाप है— एक तरह की अंतर्दृश्य और अंतस्थ कृति। यह प्रतीकीकरण नहीं, सी.एस. पीयर्स के सिद्धांत के अनुसार ये संकेत-चिह्न हैं। यहाँ संकेतक और संकेतित एक ही संदर्भ के हैं। हिन्दू कर्मकाण्ड, यज्ञ और राज्याभिषेक भी इसी व्यापक प्रक्रिया पर आधारित हैं। मानवशास्त्र की जानी हुई मान्यता के सामने यह संस्कृति और प्रकृति का सातत्य है, जो इन पदों का परस्पर निषेध भी करता चलता है।

रामानुजन के अनुसार संदर्भ पर बल देने का सबसे अच्छा उदाहरण हमें जाति (भारतीय ज्ञान परम्परा में चराचर जगत का वर्गों में विभाजन), ऋतुओं, प्राकृतिक दृश्यों, काल, गुण, रुचियों, चरित्रों, भावों और रसों के विवेचन में मिलता है। ये वर्गीकरण किसी ख़ास संदर्भ, संरचना की प्रासंगिकता, विधियों और नियमों की संगति, तथा नयी सम्भावनाओं की संप्रेष्यता में दिखते हैं। ऐसे लोक में अर्थों का तंत्र संदर्भ और सुनने वाले की प्रकृति से बँधा होता है। यों तो संदर्भ-संवेद्य नियम हर समाज में होते हैं,

लेकिन वे ही सबसे प्रभावकारी नहीं हो सकते। संदर्भ-संवेद्य समाजों में संदर्भ से मुक्ति की कामना होती है, और संदर्भ-मुक्त समाजों में ठीक इससे उल्टी प्रवृत्ति दिखती है। इस प्रकार रस, मोक्ष, संन्यास, स्फोट और भक्ति से जुड़े विचार संदर्भों के परे जाने की चाह दर्शाते हैं। विशिष्ट और सार्वभौम की खोज हमारी प्रति-परम्पराओं में बार-बार प्रकट होती है, ताकि बने-बनाये संदर्भों के ढाँचों से बाहर निकला जा सके। आधुनिक पश्चिमी समाजों में संदर्भबद्ध विशिष्टताओं की खोज हाशिये पर रह कर भी वहाँ की सांस्कृतिक विशिष्टताओं की रोशनी में उभरती है। रामानुजन भारतीय चिंतन की निर्मिति पर विचार करते हुए उसे इस प्रकार सांस्कृतिक प्रक्रिया के बड़े चक्र से जोड़ देते हैं, इस इशारे के साथ कि संस्कृतियाँ और उनमें पनपते विचार जड़ और स्थिर नहीं होते।

ये तीनों ही लेख आधुनिकता और उपनिवेशवाद के संदर्भ में चिंतन और बौद्धिक विमर्श की सम्भावनाओं पर विचार करते हैं। औपनिवेशिक संदर्भ में परम्परा सदा ओट में रहती है, और आत्माविष्करण के लिए ज़रूरी भी मालूम होती है। परंतु कहाँ से शुरू होती है वह रेखा जिसके परे सब कुछ धुँधला जान पड़ता है, ख़ास तौर से औपनिवेशिक ज्ञान और आधुनिकता में लिपटे मानस के लिए! औपनिवेशिक संदर्भ में चिंतन की नयी सम्भावनाओं के लिए बार-बार पश्चिम और देशज परम्पराओं की ओर मुड़ कर देखने की ज़रूरत पड़ती है। चिंतन के औज़ारों की खोज और चिंतक के एकांत और मेधा एकाकी नहीं, बल्कि रोज़मर्रा के जीवन में चल रहे आलोड़न का हिस्सा बन जाते हैं। यह सोच के नये व्याकरण को ईज़ाद करने और ग़ैर-देशज भाषा को आत्मसात करने का संकल्प भी खोजती है। ये लेख नये सोच की सम्भावनाओं और संदर्भ को ही नहीं तलाशते, बल्कि नयी अवधारणाओं तथा भाषा और सोच के नये विन्यास की भी बात करते हैं। लगभग दो सदी के औपनिवेशिक अनुभव की गहरी छाप हमारे चिंतन के नये क्षितिजों की तलाश में दिखती है। ये लेख महज़ संकेत हैं उसी लम्बी प्रक्रिया और उसके के कुछ केंद्रीय तत्त्वों की ओर। इस तईं ये लेख हमारी अपनी सोच की नयी सम्भावनाओं की भूमिका भी हैं। उत्तर-औपनिवेशिक समाज अपने विशिष्ट अनुभवों के संदर्भ में इन प्रश्नों का आज सामना करते दिखते हैं। शायद आज पूरी दुनिया का वैचारिक परिदृश्य अपने ठहराव से उबर कर नयी हलचल की प्रतीक्षा में है। निश्चय ही विचार की दुनिया की इस शांति के भीतर उसके आत्म-निरीक्षण के भी संकेत छिपे हैं, जो उसकी अपनी जटिल संरचनाओं से लेकर यंत्रों से बँधे एक औसत आदमी के हर रोज़ के जीवन से आ जुड़ते हैं।

ये लेख नये सोच की सम्भावनाओं और संदर्भ को ही नहीं तलाशते, बल्कि नयी अवधारणाओं तथा भाषा और सोच के नये विन्यास की भी बात करते हैं।

ये तीनों ही लेख कहीं न कहीं आधुनिक भारतीय मानस क्षितिज को भी टटोलते हैं, परम्परा की उपलब्धि और उससे प्राप्त प्रत्ययों को समकालीन बनाते हुए। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान लिखे गये कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य और अरविंद के लेख अपने पढ़े जाने में गहरे संयम की माँग करते हैं, ताकि साभ्यतिक विमर्श की छाया और परम्परा और आधुनिकता की छिपी इबारत को पढ़ा जा सके। हमारी यह प्रस्तुति एक तरह का स्मरण है, उस बौद्धिक जद्दोजहद का, जिससे गुज़रकर आधुनिक भारत में विचारणा को सम्भव किया जा सका। विचारों में स्वराज और मौलिकता के पीछे छिपा मूल प्रश्न स्वाधीन-चेतना के निर्माण का है। इन दो लेखों में इसकी खोज किसी भी ऐतिहासिक काल-खण्ड के उद्वेलनों की ओर संकेत करती है। रामानुजन अपने लेख में भारतीय चिंतन की ज़मीन कितनी बड़ी हो सकती है, इसकी ओर सावधानी बरतने की बात

करते हैं। ये लेख आपके सामने हैं इस आग्रह के साथ कि हम सब अपने-अपने ढंग से इन्हें पढ़ते हुए एक नयी जिरह की शुरुआत कर सकें। हम दोहराना चाहेंगे कि ये तीनों लेख कुछ प्रश्नों को खोलने के बहाने मात्र हैं, ख़ासतौर से जब *प्रतिमान* जैसा समाज चिंतन पर केंद्रित पत्र भाषा और सोच के रिश्तों को समकालीनता के आईने में परखने की नीयत से शुरू किया जा रहा है। भारतीय बौद्धिक परम्परा की नयी सम्भावनाओं को टोहती यह पड़ताल हमें ऐसे कई रास्तों की ओर ले जाएगी जो पश्चिमी ज्ञान से हमारे रिश्ते को फिर से पहचानने को बाध्य करे। लेकिन कहीं इससे भी आगे बढ़ कर यह पश्चिम से इतर वैश्विक बौद्धिक परम्पराओं— एशियाई, अफ़्रीकी, लैटिन अमेरिकी, आदि-से नये परिचय की ओर भी ले जाये, इसकी ज़रूरत है। साथ ही यह हमेशा उच्च बौद्धिक विमर्श के हाशिये में पड़े रहे हमारी ही ज़मीन की श्रमण, भारतीय इस्लाम और सोच की अनगिनत जन-परम्पराओं और उनके अनाम शिल्पियों से भी साक्षात्कार संभव कर पाए— प्रतिमान के बहाने हम यह आशा भी जगाए रखना चाहेंगे।